ध्यान : एक विमर्श

—डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

यों तो सभी धर्मों और दर्शनों में ध्यान, समाधि या योग का अल्पाधिक प्रतिपादन है। योग-दर्शन तो उसी पर आधृत है और योग के सूक्ष्म चिन्तन को लिए हुए है। पर योग का लक्ष्य अणिमा, महिमा, वशित्व आदि ऋद्धियों की उपलब्धि है और योगी उनकी प्राप्ति के लिए योगाराधन करता है। योग द्वारा ऋद्धि-सिद्धियों को प्राप्त करने का प्रयोजन भी लौकिक प्रभाव-दर्शन, चमत्कार-प्रदर्शन आदि है। मुक्ति-लाभ भी योग का एक उद्देश्य है। पर वह योग-दर्शन में गौण है।

जैन दर्शन में ध्यान का लक्ष्य मुख्यतया आध्यात्मिक है। और वह है आत्मा से चिर-संचित कर्ममलों को हटाना और आत्मा को निर्मल बनाकर परमात्मा बनाना। नये कर्मों को न आने देना और संचित कर्मों को छुड़ाना इन दोनों से कर्ममुक्ति प्राप्त करना ध्यान का प्रयोजन है। यद्यपि योगी को योग के प्रभाव से अनेकानेक ऋद्धियाँ सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। किन्तु उसकी दृष्टि में वे प्राप्य नहीं हैं, मात्र आनुषङ्गिक है। उनसे उसका न लगाव होता है और न उसके लिए वह ध्यान करता है। वे तथा स्वर्ग आदि की सम्पदाएँ उसे उसी प्रकार प्राप्त होती हैं जिस प्रकार किसान को चावलों के साथ भूसा अप्रार्थित मिल जाता है। किसान भूसा को प्राप्त करने का न लक्ष्य रखता है और न उसके लिए प्रयास ही करता है। योगी भी योग का आराधन मात्र कर्म-निरोध और कर्म-निर्जरा के लिए करता है। यदि कोई योगी उन ऋद्धि-सिद्धियों में उलझता है—उनमें लुभित होता है तो वह योग के वास्तविक लाभ से वंचित होता है। तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ ने स्पष्ट लिखा है कि तप (ध्यान) से संवर (कर्मास्रव-निरोध) और निर्जरा (संचित कर्मों का अभाव) दोनों होते हैं।[1] आचार्य रामसेन ने भी अपने तत्त्वानुशासन में ध्यान को संवर तथा निर्जरा का कारण बतलाया है।[2] संवर और निर्जरा दोनों से कर्माभाव होता है और समस्त कर्माभाव ही मोक्ष है।[3] इससे स्पष्ट है कि जैन दर्शन में ध्यान का आध्यात्मिक लाभ मुख्य है।

ध्यान की आवश्यकता

ध्यान की आवश्यकता पर बल देते हुए द्रव्यसंग्रहकार नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव ने लिखा है[4] कि 'मुक्ति का उपाय रत्नत्रय है और वह व्यवहार तथा निश्चय की अपेक्षा दो प्रकार का है। यह दोनों

१ 'आस्रवनिरोधः संवरः', 'तपसा निर्जरा च'—त. सू. ९-१, ३।
२ 'तद् ध्यानं निर्जरा हेतुः संवरस्य च कारणम्'—तत्वानु. ५६।
३ 'बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षो मोक्षः।'—त. सू. १०-२।
४ दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥ —द्रव्य सं. ४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार का रत्नत्रय ध्यान से ही उपलभ्य है। अतः सम्पूर्ण प्रयत्न करके मुनि को निरन्तर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। आ. अमृतचन्द्र भी यही कहते हैं।[1] यथार्थ में ध्यान में जब योगी अपने से भिन्न किसी दूसरे मन्त्रादि पदार्थ का अवलम्बन लेकर अरहन्त आदि को अपने श्रद्धान, ज्ञान और आचरण का विषय बनाता है तब वह व्यवहार मोक्षमार्ग है और जब केवल अपने आत्मा का अवलम्बन लेकर उसे ही अपने श्रद्धान, ज्ञान और आचरण का विषय बनाता है तब वह निश्चय मोक्ष-मार्ग है। अतः मोक्ष के साधनभूत रत्नत्रय-मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए योगी को ध्यान करना बहुत आवश्यक है।

ध्यान की दुर्लभता

मनुष्य के चिरन्तन संस्कार उसे विषय-वासनाओं की ओर ही ले जाते हैं और इन संस्कारों की जनिका एवं उद्‌बोधिका पाँचों इन्द्रियाँ तो हैं ही, मन तो उन्हें ऐसी प्रेरणा देता है कि वे न जाने योग्य स्थान में भी प्रवृत्त हो जाती हैं। फलतः मनुष्य सदा इन्द्रियों और मन का दास बनकर उचित-अनुचित प्रवृत्ति करता है। परिणाम यह होता है कि वह निरन्तर राग-द्वेष की भट्टी में जलता रहता एवं कष्ट उठाता रहता है। आचार्य अमितगति ने ठीक लिखा है[2] कि जीव संयोग के कारण दुःख परम्परा को प्राप्त होता है। अगर वह इस तथ्य को एक बार भी विवेकपूर्वक समझ ले, तो उस संयोग के छोड़ने में उसे एक क्षण भी नहीं लगेगा। तत्त्वज्ञान से क्या असम्भव है? यह तत्त्वज्ञान श्रुतज्ञान है और श्रुतज्ञान ध्यान है। अतः ध्यान के अभ्यास के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण। जब तक उन पर नियन्त्रण न होगा तब तक मनुष्य विषय-वासनाओं में डूबा रहेगा—आसक्त रहेगा और कष्टों को उठाता रहेगा। पर यह तथ्य है कि कष्ट या दुःख किसी को इष्ट नहीं है—सभी सुख और शान्ति चाहते हैं। जब वास्तविक स्थिति यह है तब मनुष्य को सद्‌गुरुओं के उपदेश से या शास्त्र ज्ञान से उक्त तथ्य को समझकर विषय-वासनाओं में ले जाने वाली इन्द्रियों तथा मन पर नियन्त्रण करना जरूरी है। उनके नियन्त्रित होने पर मनुष्य अपनी प्रवृत्ति आत्मोन्मुखी अवश्य करेगा, क्योंकि मनुष्य का आत्मा की ओर लगाव होने पर इन्द्रियाँ और मन निर्विषय हो जाते हैं। अग्नि को ईंधन न मिलने पर वह जैसे बुझ जाती है।

यह सच है कि इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण करना सरल नहीं है, अति दुष्कर है। किन्तु यह भी सच है कि वह असम्भव नहीं है। सामान्य मनुष्य और असामान्य मनुष्य में यही अन्तर है कि जो कार्य सामान्य मनुष्य के लिए कठिन और दुष्कर होता है वही कार्य असामान्य मनुष्य के लिये सम्भव होता है। अतः इन्द्रियों और मन को प्रारम्भ में नियन्त्रित करना कठिन मालूम पड़ता है। पर संकल्प और दृढ़ता के साथ उन पर नियन्त्रण पाने का प्रयास करने पर उन पर विजय पा ली जा सकती है। उसके प्रधान दो उपाय हैं—१. परमात्मभक्ति और २. शास्त्रज्ञान। परमात्मभक्ति के लिये पंच परमेष्ठी का जप, स्मरण और गुणकीर्तन आवश्यक है। उसे ही अपना शरण (**अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम**) माना जाय। इससे आत्मा में विचित्र प्रकार की शुद्धि आती है। मन और वाणी निर्मल होते हैं। और उनके निर्मल होते ही आत्मा का झुकाव ध्यान की ओर होता है तथा ध्यान के द्वारा उपर्युक्त

---

१ निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्॥ —तत्वार्थ सार

२ संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःख परम्परा।
तस्मात्संयोग सम्बन्धं त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम्॥ —सामायिक पाठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग प्राप्त होता है। परमात्मभक्ति में उन सब मन्त्रों का जाप किया जाता है, जिनमें केवल अर्हत्, केवल सिद्ध, केवल आचार्य, केवल उपाध्याय, केवल मुनि या सभी को स्मरण किया जाता है। आचार्य विद्यानन्द ने लिखा है[1] कि—परमेष्ठी की भक्ति (स्मरण, कीर्त्तन, ध्यान) से निश्चय ही श्रेयोमार्ग की संसिद्धि होती है। इसी से उसका स्तवन बड़े-बड़े मुनिश्रेष्ठों ने किया है।

इन्द्रियों और मन को वश में करने का दूसरा उपाय श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञान सम्यक्शास्त्रों के अनुशीलन, मनन और सतत अध्यास से प्राप्त होता है। वास्तव में जब मन का व्यापार शास्त्रस्वाध्याय में लगा होता है—उसके शब्द और अर्थ के चिन्तन में संलग्न होता है तो वह अन्यत्र नहीं जाता। और जब वह अन्यत्र नहीं जायेगा, तो इन्द्रियाँ विषय-विमुख हो जावेगी। वस्तुतः इन्द्रियाँ मन के सहयोग से सबल रहती हैं। इसीलिये मन को ही बन्ध और मोक्ष का कारण कहा गया है। शास्त्र-स्वाध्याय मन को नियन्त्रित करने के लिए एक अमोघ उपाय है। इसी से "**स्वाध्यायं परमं तपः**" स्वाध्याय को परम तप कहा गया है।

ये दो उपाय हैं इन्द्रियों और मन को नियन्त्रित करने के। इनके नियन्त्रित हो जाने पर ध्यान हो सकता है। अन्य सब ओर से चित्त की वृत्तियों को एक विषय में स्थिर करने का नाम ही ध्यान है। चित्त को जब तक एक ओर केन्द्रित नहीं किया जाता तब तक न आत्मदर्शन होता है और न आत्मज्ञान होता है, न आत्मा में आत्मा की चर्या। और जब तक ये तीनों प्राप्त नहीं होते तब तक दोषों और उनके जनक आवरणों की निवृत्ति सम्भव नहीं। तत्त्वानुशासन में आचार्य रामसेन कहते हैं[2] कि जिस प्रकार सतत अभ्यास से महाशास्त्र भी अभ्यस्त हो जाते हैं उसी प्रकार निरन्तर के ध्यानाभ्यास से ध्यान भी सुस्थिर हो जाता है। वे[3] कहते हैं कि 'हे योगिन्! यदि तू संसार बन्धन से छूटना चाहता है तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय को ग्रहण करके बन्ध के कारणभूत मिथ्यादर्शनादिक के त्यागपूर्वक निरन्तर सद्ध्यान का अभ्यास कर। ध्यान के अभ्यास की प्रकर्षता से मोह का नाश कर चरमशरीरी योगी तो उसी पर्याय में मुक्ति प्राप्त कर लेता है, और जो चरमशरीरी नहीं है, वह उत्तम देवादि की आयु प्राप्त कर क्रमशः कुछ भवों में मुक्ति पा लेता है। यह ध्यान का ही अपूर्व माहात्म्य है।'

निःसन्देह ध्यान एक ऐसा अमोघ प्रयास है जो इस लोक और परलोक दोनों में आत्मा को सुखी बनाता है। यह गृहस्थ और मुनि दोनों के लिये अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार हितकारी है। ध्यान के इस महत्त्व को समझकर उसे अवश्य करना चाहिये। तत्त्वार्थ सूत्र, ज्ञानार्णव आदि में इसका विशेष विवेचन है।

---

१ श्रेयोमार्गसंसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौमुनिपुङ्गवाः॥ —आप्तपरीक्षा, का. २१

२ यथाऽभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासवर्तिनाम्॥ —तत्वानु. ८८

३ वही, श्लोक २२३, २२४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org